साहित्यसुधा

साहित्यकारों की वेबपत्रिका

साहित्यकारों की रचना स्थली

वर्ष: 3, अंक 46, अक्टूबर(प्रथम) , 2018

कला - संस्कृति :

एक लीला , अनेक रूप

रामजी की लीला है न्यारी !

घनश्याम बादल

राम लीला का मौसम आ गया है । उत्तरी भारत के हर छोटे - बड़े गांव , कस्बे और शहर में इन दिनो रामलीलाएं चल रही हैं विजय दशमी के अवसर पर कहीं पहले तो कहीं बाद में 'रामलीला' उत्तरी भारत में परम्परागत रूप से खेला जाने वाला श्रीराम के चरित्र पर आधारित लोक नाट्य है । कितने ही रूपों में रामलीलाओं का देश के विविध प्रान्तों में ही नहीं विदेशों में भी अलग - अलग शैलियों में मंचन किया जाता है।

इतिहास

समुद्रतटीय क्षेत्रों से लेकर हिमालय तक खेली जाने वाली रामलीलाओं का आदि प्रवर्तक कौन है, यह विवादास्पद प्रश्न है। भावुक भक्तों की दृष्टि में यह अनादि है पर एक किंवदंती का संकेत कहती है कि त्रेता युग में श्रीरामचंद्र के वनगमनोपरांत अयोध्यावासियों ने 14 वर्ष की वियोग अवधि राम की बाल लीलाओं का अभिनय कर बिताई थी। तभी से इसकी परंपरा का प्रचलन हुआ। एक अन्य जनश्रुति से पता चलता है कि इसके आदि प्रवर्तक **मेघा भगत** थे जो काशी के कतुआपुर मुहल्ले में स्थित फुटहे हनुमान के निकट के निवासी माने जाते हैं।

मिथ:

कहते हैं कि एक बार पुरुषोत्तम रामचंद्र जी ने **मेघा भगत को** स्वप्न में दर्शन देकर लीला करने का आदेश दिया ताकि भक्त जनों को भगवान् के साक्षात दर्शन हो सकें। इससे प्रेरणा पाकर उन्होंने रामलीला संपन्न कराई। और भरत मिलाप के मंचन अवसर पर आराध्य देव राम ने अपनी झलक देकर इनकी कामना पूर्ण की। कुछ लोगों के मतानुसार रामलीला की अभिनय परंपरा के प्रतिष्ठापक गोस्वामी तुलसीदास हैं, इन्होंने अवधी में इसका श्रीगणेश किया। इनकी प्रेरणा से अयोध्या और काशी के तुलसी घाट पर प्रथम बार रामलीला हुई थी। समूचे उत्तर भारत में आज रामलीला का जो स्वरूप विकसित हुआ है उसके जनक गोस्वामी तुलसीदास ही माने जाते हैं, और यह भी सच है कि इन सभी रामलीलाओं में रामचरितमानस का गायन, उसके संवाद और प्रसंगों की एक तरह से प्रमुखता रहती है।

क्या कहते हैं साहित्यकार:

साहित्यकार बाबू श्यामसुंदर दास हों, कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह हों या फिर आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र सभी की यह मान्यता है कि रामलीला के वर्तमान स्वरूप के उद्घाटक, प्रवर्तक और प्रसारक महात्मा तुलसीदास हैं। किंतु यह भी सच नहीं है कि तुलसी के पूर्व रामलीला थी ही नहीं, हाँ यह अवश्य है कि गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस के पश्चात् फिर रामलीलाओं का आधार यही रामचरितमानस ही हो गया।

एक लीला अनेक देश , अनेक रूप:

-पूर्व एशिया के इतिहास में मिले प्रमाणों से पता चलता है कि इस क्षेत्र में प्राचीन काल से ही रामलीला का प्रचलन था। जावा के सम्राट वलितुंग के एक शिलालेख में एक समारोह का विवरण है जिसके अनुसार सिजालुक ने नृत्य और गीत के साथ रामायण का प्रदर्शन किया था। इस शिलालेख की तिथि 907 ई. है।

थाई नरेश बोरमत्रयी लोकनाथ की राजभवन नियमावली में भी रामलीला मंचन का उल्लेख है जिसकी तिथि 1458 ई. है। बर्मा के राजा ने 1767 ई. में स्याम (थाईलैड) पर आक्रमण किया था। युद्ध में स्याम पराजित हो गया। विजेता सम्राट रामलीला कलाकारों को भी बर्मा ले गया। बाद में बर्मा के राजभवन में थाई कलाकारों द्वारा रामलीला का प्रदर्शन होने लगा। माइकेल साइमंस ने बर्मा के राजभवन में 'राम नाटक' 1794 ई. में देखा था। दक्षिण एशिया के विभिन्न देशों में रामलीला के अनेक नाम और रूप हैं। उन्हें प्रधानतः दो मुखौटा रामलीला व छाया रामलीला वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-

मुखौटा रामलीला

मुखौटा रामलीला के अंतर्गत इंडोनेशिया और मलेशिया के लाखोन, कंपूचिया के ल्खोनखोल तथा बर्मा के श्यामप्वे का प्रमुख स्थान है। इंडोनेशिया और मलेशिया में लाखोन के माध्यम से रामायण के अनेक प्रसंगों को मंचित किया जाता है। कंपूचिया में रामलीला का अभिनय ल्खोनखोल के माध्यम के होता है। ल्खोन इंडोनेशयाई मूल का शब्द है जिसका अर्थ नाटक है।

कंपूचिया की भाषा खमेर में खोल का अर्थ बंदर होता है। इसलिए ल्खोनखोल को बंदरों का नाटक या हास्य नाटक कहा जा सकता है। ल्खोनखोल वस्तुतः एक प्रकार का नृत्य नाटक है जिसमें कलाकार विभिन्न प्रकार के मुखौटे लगाकर अपनी-अपनी भूमिका निभाते हैं। इसके अभिनय में मुख्य रूप से ग्राम्य परिवेश के लोगों की भागीदारी होता है। कंपूचिया के राजभवन में रामायण के प्रमुख प्रसंगों का अभिनय होता था।

मुखौटा नाटक के माध्यम से प्रदर्शित की जाने वाली रामलीला को थाईलैंड में **ल्खौन** कहा जाता है। इसमें संवाद के अतिरिक्त नृत्य, गीत एवं हाव-भाव प्रदर्शन की प्रधानता होती है। ल्खौन का नृत्य बहुत कठिन और समयसाध्य है। इसमें गीत और संवाद का प्रसारण पर्दे के पीछे से होता है। केवल विदूषक अपने संवाद स्वयं बोलता है। मुखौटा केवल दानव और बंदर-भालू की भूमिका निभाने वाले अभिनेता ही लगाते हैं। देवता और मानव पात्र मुखौटे धारण नहीं करते।

बर्मा की मुखौटा रामलीला को यामप्वे कहा जाता है। बर्मा की रामलीला स्याम से आयी थी। इसलिए इसके गीत, वाद्य और नृत्य पर स्यामी प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता, किंतु वास्तविकता यह है कि बर्मा आने के बाद यह स्याम की रामलीला नहीं रह गयी, बल्कि यह पूरी तरह बर्मा के रंग में डूब गयी। बर्मा के लोग हास्यरस के प्रेमी होते हैं। इसलिए यामप्वे में भी विदूषक की प्रधानता होती है।

छाया रामलीला

विविधता और विचित्रता के कारण छाया नाटक के माध्यम से प्रदर्शित की जाने वाली रामलीला मुखौटा रामलीला से भी निराली है। इसमें जावा तथा मलेशिया के वेयांग और थाईलैंड के नंग का विशिष्ट स्थान है। जापानी भाषा में वेयांग का अर्थ छाया है। इसलिए यह अंग्रेजी में शैडोप्ले और हिन्दी में छाया नाटक के नाम से विख्यात है।

इसके अंतर्गत सफेद पर्दे को प्रकाशित किया जाता है और उसके सामने चमड़े की पुतलियों को इस प्रकार नचाया जाता है कि उसकी छाया पर्दे पर पड़े। छाया नाटक के माध्यम से रामलीला का प्रदर्शन पहले तिब्बत और मंगोलिया में भी होता था। थाईलैंड में छाया-रामलीला को नंग कहा जाता है। नंग के दो रूप है-नंगयाई व नंगतुलुंगनंग का अर्थ चर्म या चमड़ा और याई का अर्थ बड़ा है। नंगयाई

का तात्पर्य चमड़े की बड़ी पुतलियों से है। इसका आकार एक से दो मीटर लंबा होता है। इसमें दो डंडे लगे होते हैं। नट दोनों हाथों से डंडे को पकड़कर पुतलियों के ऊपर उठाकर नचाता है। इसका प्रचलन अब लगभग समाप्त हो गया है।

नंग तुलुंग दक्षिणी थाईलैंड में मनोरंजन का लोकप्रिय साधन है। इसकी चर्म पुतलियाँ नंगयाई की अपेक्षा बहुत छोटी होती हैं। नंग तुलुंग के माध्यम से मुख्य रूप से थाई रामायण रामकियेन का प्रदर्शन होता है। थाईलैंड के नंग तुलुंग और जावा तथा मलेशिया के वेयांग कुलित में बहुत समानता है। वेयांग कुलित को वेयंग पूर्वा अथवा वेयांग जाव भी कहा जाता है। यथार्थ यह है कि थाईलैंड, मलयेशिया और इंडोनेशिया में विभिन्न नामों से इसका प्रदर्शन होता है।

वेयांग वेयांग प्रदर्शित करने वाले मुख्य कलाकार को दालांग कहा जाता है। वह नाटक का केंद्र बिन्दु होता है। वह बाजे की ध्वनि पर पुतलियों को नचाता है। इसके अतिरिक्त वह गाता भी है। वह आवाज बदल-बदल कर बारी-बारी से विभिन्न पात्रों के संवादों को भी बोलता है, किंतु जब पुतलियाँ बोलती रहती हैं, बाजे बंद रहते हैं। वेयांग में दालांग के अतिरिक्त सामान्यतः बारह व्यक्ति होते हैं, किंतु व्यवहार में इनकी संख्या नौ या दस होती है। वेयांग में सामान्यतः 148 पुतलियाँ होती हैं जिनमें सेमार का स्थान सर्वोच्च है। सेमार ईश्वर का प्रतीक है और उसी की तरह अपरिभाषित और वर्णनातीत भी। उसकी गोल आकृति इस तथ्य का सूचक है कि उसका न आदि है और न अंत। उसके नारी की तरह स्तन और पुरुष की तरह मूँछ हैं। इस प्रकार वह अर्द्धनारीश्वर का प्रतीक है। जावा में सेमार को शिव का बड़ा भाई माना जाता है। वह कभी कायान्गन (स्वर्ग लोक) में निवास करता था, जहाँ उसका नाम ईसमय था। वेयांग का संबंध केवल मनोरंजन से ही नहीं, प्रत्युत आध्यात्मिक साधना से भी है ।

परंपरा और शैलियाँ

राम की कथा को नाटक के रूप में मंच पर प्रदर्शित करने वाली रामलीला भी "हरि अनंत हरि कथा अनंता " की तर्ज पर विविध शैलियों वाली है, रामकथा तो ख्यात कथा है, किंतु जिस प्रकार वह भारत भर की विभिन्न भाषाओं में अभिव्यक्त हुई है तो उस भाषा, उस स्थान और उस समाज की कुछ निजी विशिष्टताएँ भी उसमें अनायास ही समाहित हो गई हैं - रंगनाथ रामायण और कृतिवास या भावार्थ रामायण और असमिया रामायण की मूल कथा एक होते हुए भी अपने-अपने भाषा-भाषी समाज की रामकथाएँ बन गई हैं।

कुमाऊँनी रामलीला

भगवान राम की कथा पर आधारित रामलीला नाटक के मंचन की परंपरा भारत में युगों से चली आयी है। लोक नाट्य के रूप में प्रचलित इस रामलीला का देश के विविध प्रान्तों में अलग अलग तरीकों से मंचन किया जाता है। उत्तराखण्ड के खासकर कुमायूं अंचल में रामलीला मुख्यतः गीत-नाट्य शैली में प्रस्तुत की जाती है। वस्तुतः पूर्व मे यहां की रामलीला विशुद्ध मौखिक परंपरा पर आधारित थी, जो पीढ़ी दर पीढ़ी लोक मानस में रचती-बसती रही। शास्त्रीय संगीत के तमाम पक्षों का ज्ञान न होते हुए भी लोग सुनकर ही इन पर आधारित गीतों को सहजता से याद कर लेते थे।

पूर्व में तब आज के समान सुविधाएं न के बराबर थीं स्थानीय बुजुर्ग लोगों के अनुसार उस समय की रामलीला मशाल, लालटेन व पैट्रोमैक्स की रोशनी में मंचित की जाती थी। कुमायूं में रामलीला नाटक के मंचन की शुरुआत अठारहवीं सदी के मध्यकाल के बाद हो चुकी थी। बताया जाता है कि कुमायूं में पहली रामलीला 1860 में अल्मोड़ा नगर के बद्रेश्वर मन्दिर में हुई। जिसका श्रेय तत्कालीन डिप्टी कलैक्टर स्व. देवीदत्त जोशी को जाता है। बाद में नैनीताल, बागेश्वर व पिथौरागढ़ में क्रमशः 1880, 1890 व 1902 में रामलीला नाटक का मंचन प्रारम्भ हुआ। अल्मोड़ा नगर में 1940-41 में विख्यात नृत्य सम्राट पंडित उदय शंकर ने छाया चित्रों के माध्यम से रामलीला में नवीनता लाने का प्रयास किया। हालांकि पंडित उदय शंकर द्वारा प्रस्तुत रामलीला यहां की परंपरागत रामलीला से कई मायनों में भिन्न थी लेकिन उनके छायाभिनय, उत्कृष्ट संगीत व नृत्य की छाप यहां की रामलीला पर अवश्य पड़ी।

विशेषता :

कुमायूं की रामलीला में बोले जाने वाले संवादों, धुन, लय, ताल व सुरों में पारसी थियेटर की छाप दिखाई देती है, साथ ही साथ ब्रज के लोक गीतों और नौटंकी की झलक भी। संवादों में आकर्षण व प्रभावोत्पादकता लाने के लिये कहीं-कहीं पर नेपाली भाषा व उर्दू की गजल का सम्मिश्रण भी हुआ है। कुमायूं की रामलीला में संवादों में स्थानीय बोलचाल के सरल शब्दों का भी प्रयोग होता है।

रावण कुल के दृश्यों में होने वाले नृत्य व गीतों में अधिकांशतः कुमायूंनी शैली का प्रयोग किया जाता है। रामलीला के गेय संवादो में प्रयुक्त गीत दादर, कहरुवा, चांचर व रूपक तालों में निबद्ध रहते हैं। हारमोनियम की सुरीली धुन और तबले की गमकती गूंज में पात्रों का गायन कर्णप्रिय लगता है। संवादों में रामचरितमानस के दोहों व चौपाईयों के अलावा कई जगहों पर गद्य रूप में संवादों का प्रयोग होता है। यहां की रामलीला में गायन को अभिनय की अपेक्षा अधिक तरजीह दी जाती है। रामलीला में वाचिक अभिनय अधिक होता है, जिसमें पात्र एक ही स्थान पर खडे होकर हाव-भाव प्रदर्शित कर गायन करते हैं। नाटक मंचन के दौरान नेपथ्य से गायन भी होता है। विविध दृश्यों में आकाशवाणी की उद्घोषणा भी की जाती है। रामलीला प्रारम्भ होने के पूर्व सामूहिक स्वर में रामवन्दना "श्री रामचन्द्र कृपालु भजमन " का गायन किया जाता है। इसमें अभिनय करने वाले सभी पात्र पुरुष होते हैं। आधुनिक बदलाव में कुछ जगह की रामलीलाओं में कोरस गायन, नृत्य के अलावा कुछ महिला पात्रों में लड़कियों को भी शामिल किया जाने लगा है।

संकट तारी :

और बात तो सब ठीक हैं पर ,मनोरंजन के अधुनिकतम साधनों के आने से रामलीलाएं अब संकट का सामना कर रही हैं । दिल्ली जैसे महानगरों को छोड़ दें तो अब परंपरागत रामलीलाएं दम तोड़ने के कगार पर ही हैं । और अगर ऐसा ही चलता रहा तो भारत की कई दूसरी परंपरागत कलाओं की तरह रामलीला भी लुप्त हों जाएगी । यदि इसे बचाना है तो इसमें आए भांडेपन व बढ़ते भारी खर्च को तो रोकना ही होगा इसे संरक्षण भी देना होगा जिसके लिए स्वैच्छिक संस्थाओं के साथ ही सांस्कृतिक जगत व सरकार को भी आगे आने की ज़रूरत है ।

कृपया रचनाकार को मेल भेज कर अपने विचारों से अवगत करायें